पुलिस स्मृति दिवस और पुलिस सुधार

पुलिस सुधार की लम्बी मुहिम का पटाक्षेप भी अंततः पुलिस के बदनाम हार्डवेयर को ही थोड़ा-बहुत चमकाने में होकर रह गया तो चतुर्दिक निराशा स्वाभाविक है। 1996 में पूर्व डी जी पी प्रकाश सिंह ने 1977-81 के पुलिस कमीशन की भुला दी गयी सुधार-सिफारिशों को लेकर सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। प्रकाश सिंह उत्तर प्रदेश और आसाम जैसे कठिन राज्यों में पुलिस मुखिया रहे और सीमा सुरक्षा बल के प्रमुख भी। कानून-व्यवस्था को सक्षम बनाने की राह में व्यस्थाजन्य बाधाओं को वे बखूबी समझते होंगे। उनकी अथक पहल से दस वर्ष में आये सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का प्रमुख जोर, पुलिस कमीशन की तर्ज पर, पुलिस को राजनीति एवं नौकरशाही के बेजा दबावों से मुक्त करने और उसकी कामकाजी स्वायत्तता को बाह्य निगरानी के अपेक्षाकृत व्यापक उपकरणों से संतुलित करने पर केन्द्रित रहा। वैसे इन निर्देशों की, कुछ हद तक केरल को छोड़कर, तमाम राज्यों और केंद्र ने भी अब तक छद्म पालना ही की है।

विकास नारायण राय

इस वर्ष पुलिस स्मृति दिवस (21 अक्तूबर) पर विभिन्न पुलिसबलों के लगभग एक हजार शहीद याद किये जायेंगे। एक ओर कर्तव्य वेदी पर प्राणों की आहुति की वार्षिक रस्मअदायगी देश की तमाम पुलिस यूनिटों में हो रही होगी और दूसरी ओर पुलिस छवि को लेकर भारतीय समाज में मिश्रित कुंठाएं भी ज्यों की त्यों बनी रहेंगी। पुलिस की पेशेवर क्षमता को लेकर जनमानस में धारणा रही है, बेशक अतिरेकी, कि पुलिस चाहे तो कैसा भी अपराध रोक दे और किसी भी तरह की अव्यवस्था पर काबू पा ले। ऐसी सकारात्मक लोक छवि और अनवरत बलिदानी परम्परा के बावजूद, संवैधानिक मूल्यों पर खरी उतरनेवाली नागरिक-संवेदी पुलिस का माडल भारतीय लोकतंत्र नहीं गढ़ पाया है।

फिलहाल इस सम्बन्ध में स्वयं सर्वोच्च न्यायालय की निगरानी में प्रकाश सिंह मामले में चल रही 'पुलिस सुधार' की कवायद भी विशेष मददगार सिद्ध नहीं होने जा रही, हालांकि न्यायालय के 22 सितम्बर 2006 के सम्बन्धित फैसले पर दांव लगानेवालों की कमी नहीं है। एक तो, सर्वोच्च न्यायालय निर्देशित सुधार आधुनिक पुलिस के लिए जरूरी होते हुए भी, तमाम सरकारें इन्हें लागू करने में रुचि नहीं रखतीं। दूसरे, ये सुधार भी आम नागरिक के लिए असंगत पुलिस साफ्ट-वेयर को बरायनाम ही छू पाएंगे। दरअसल, पुलिस सुधार को प्रशासनिक रस्साकशी तक सीमित रखे जाने से 'अच्छी पुलिस' की राह में मुख्य समस्या राजनीतिकों और नौकरशाहों के नकारात्मक रवैये के रूप में चिन्हित की जा रही है। जबकि जमीनी सच्चाई है कि औपनिवेशिक जड़ोंवाली समाज-निरपेक्ष पुलिस, बेशक कितनी भी सक्षम क्यों न बना दी जाये लोकतांत्रिक ढाँचे में नहीं खप सकती।

पुलिस सुधार की लम्बी मुहिम का पटाक्षेप भी अंततः पुलिस के बदनाम हार्डवेयर को ही थोड़ा-बहुत चमकाने में होकर रह गया तो चतुर्दिक निराशा स्वाभाविक है। 1996 में पूर्व डी जी पी प्रकाश सिंह ने 1977-81 के पुलिस कमीशन की भुला दी गयी सुधार-सिफारिशों को लेकर सर्वोच्च न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था। प्रकाश सिंह उत्तर प्रदेश और आसाम जैसे कठिन राज्यों में पुलिस मुखिया रहे और सीमा सुरक्षा बल के प्रमुख भी। कानून-व्यवस्था को सक्षम बनाने की राह में व्यस्थाजन्य बाधाओं को वे बखूबी समझते होंगे। उनकी अथक पहल से दस वर्ष में आये सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का प्रमुख जोर, पुलिस कमीशन की तर्ज पर, पुलिस को राजनीति एवं नौकरशाही के बेजा दबावों से मुक्त करने और उसकी कामकाजी स्वायत्तता को बाह्य निगरानी के अपेक्षाकृत व्यापक उपकरणों से संतुलित करने पर केन्द्रित रहा। वैसे इन निर्देशों की, कुछ हद तक केरल को छोड़कर, तमाम राज्यों और केंद्र ने भी अब तक छद्म पालना ही की है।

सर्वविदित है कि पुलिस के काम-काजी वातावरण में सत्ताधारियों के प्रति वफादारी दिखाना कहीं अधिक जरूरी बन गया है बनिस्बत कानून के प्रति एकनिष्ठ समर्पण रखने के। बजाय स्वयं को समाज की शान्ति और सुरक्षा के प्रति जवाबदेह सिद्ध करने के पुलिस को बेहिचक प्रभाव व पैसे का मतलब साधते देखा जा सकता है। 1861 के औपनिवेशिक पुलिस एक्ट पर आधारित उसकी साख सामान्य नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारों की उपेक्षा करनेवाली, अपराध के आंकड़ों में हेरा-फेरी से अपनी कुशलता दिखानेवाली और शातिर अपराधियों से मिलीभगतवाली बन चुकी है। मानव अधिकारों का नियमित हनन करने के आरोपों से घिरी राज्य की इस निर्णायक एजेंसी की कार्यप्रणाली पर भ्रष्टाचार, संकीर्णता, मनमानी और क्रूरता के गहरे प्रश्नचिन्ह हैं, जिनके समाधान में आतंरिक एवं बाह्य निगरानी की तमाम परतें अप्रभावी सिद्ध हुयी हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का पुलिस सुधार मुख्यतः स्वायत्तता, जवाबदेही और लोकोन्मुखता के पांच बिन्दुओं पर केन्द्रित है। माना गया कि डी जी पी/आइ जी पी/एस पी/एस एच ओ की दो वर्ष की निश्चित तैनाती और डी जी पी व चार अन्य वरिष्ठतम पुलिस अधिकारियों के एस्टैब्लिशमेंट बोर्ड को उप पुलिस अधीक्षक स्तर तक के तबादलों का अधिकार, पुलिस की स्वायत्तता को मजबूत कर उसे बाह्य दबावों से मुक्त रखेगा। पुलिस को कानूनी चौहद्दी में बने रहने के लिए स्टेट पुलिस कमीशन और पुलिस कम्प्लेंट्स अथॉरिटी की अवधारणा लाई गयी। यह कहा गया कि हर राज्य नए सिरे से लोकोन्मुख पुलिस एक्ट बनाये। कागज पर शानदार कवायद, पर व्यवहार में 'नयी बोतल में पुरानी शराब' से ज्यादा कुछ नहीं!

स्पष्टतः, न केवल उपरोक्त उपकरणों के गठन और कार्य संस्कृति में सरकारों की ही निर्णायक भूमिका होगी बल्कि उनके पास पुलिस के घुटने टिकाने के लिए अनुशासन/प्रलोभन के और भी हजारों-हजार तरीके बने रहेंगे। अनुभवसिद्ध है कि दो वर्ष की स्वायत्तता की खातिर पुलिसकर्मी अपना पैंतीस वर्ष का सेवाकाल और सेवा-उपरान्त फायदा दांव पर नहीं लगाएगा। इसी तरह पुलिस पर निगरानी की मौजूदा अनेकों प्रणालियों में एक और की वृद्धि, तिकड़मबाज पुलिसकर्मी पर शायद ही असर करे। सुधारों में दो महत्वपूर्ण लोकोन्मुखी अनुशंसाएं कम्युनिटी पुलिसिंग और कानून व्यवस्था का अनुसन्धान कार्य से अलगाव भी इंगित हैं पर उन्हें तो कोई भी पुलिस यूनिट बिना अदालती आदेश का सहारा लिए और राजनीतिक कोपभाजन की चिंता किये, स्वतः भी लागू कर सकती है। क्या पुलिस इसके लिए प्रशिक्षित है?

लोकतांत्रिक प्रणाली में राजनीतिक सत्ता का पूर्ण नकार न संभव है और न सर्वोच्च न्यायालय समेत पुलिस सुधार पर केन्द्रित किसी भी कमीशन/कमेटी का ऐसा मत रहा है। हमें समझना चाहिए कि लोकतांत्रिक पुलिस सुधार का वास्तविक आधार सशक्त समाज ही हो सकता है न कि समाज-निरपेक्ष पुलिस स्वायत्तता। यही सारी दुनिया का सबक है एक मजबूत समाज अपनी पुलिस की इज्जत करता है और उसे सहयोग देता है; कमजोर समाज पुलिस को अविश्वास से देखता है और प्रायः उसे अपने विरोध में खड़ा पाता है। एक संवेदी एवं लोकोन्मुख कानून-व्यवस्था, पुलिस के वर्तमान काम-काजी सम्बन्धों के अंतर्गत ही, प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से हासिल कर पाना संभव नहीं होगा।

भारत जैसे कमजोर लोकतंत्र में, विशेषकर राजनीतिक वर्ग के व्यापक लम्पटीकरण के चलते, पुलिस सुधार एक बेहद जटिल कवायद है। इस क्षेत्र में, व्यवहार के धरातल पर, आज एक त्रिधापाश (ट्राइलेमा) की स्थिति बनती है। यानी पुलिस व्यवस्था की तीन संभावित स्थितियों में से कोई भी या तो कारगर नहीं है या संभव नहीं है। दरअसल, पुलिस, सत्ता प्रतिष्ठान और जनता में से एक समय में दो का मिलान ही संभव हो पा रहा है। जबकि 'अच्छी पुलिस' समीकरण के लिए तीनों का मिलान चाहिए जो एक मजबूत लोकतंत्र में ही स्वाभाविक रूप से संभव होता है। इन त्रिधापाशी अंतर्संबंधों को इस प्रकार समझा जा सकता है:

1. त्रिधापाश की पहली स्थिति (सत्ता प्रतिष्ठान और उससे संचालित पुलिस का गठजोड़) के अंतर्गत ही आज पुलिस काम कर रही है। सत्ता प्रतिष्ठान के चंगुल में होने से पुलिस की प्रवृत्ति है कि वह सत्ताधारियों के साथ कदमताल करे। इस समीकरण में जनता पुलिस के फोकस से बाहर हो जाती है।

2. त्रिधापाश की दूसरी स्थिति (स्वायत्त पुलिस और जनता एक साथ) पर पुलिस सुधार की वर्तमान कवायद आधारित है। यह पुलिस को किसी हद तक सत्ता प्रतिष्ठान से मुक्त करने की कोशिश है। साथ ही उसे बाह्य निगरानी से संतुलित रखने की परिकल्पना भी इसमें है। पर यहाँ भी न पुलिस के नागरिक-संवेदी होने की पूर्वशर्त है और न ही उसकी कार्यप्रणाली में जनता की कोई भूमिका है। यह स्थिति भी दिखावटी सुधारों तक ही पहुँच पाई है, जैसा कि कई राज्यों के सर्वोच्च न्यायालय की अनुपालना में पारित नए पुलिस अधिनियमों से जाहिर है।

3. भारतीय समाज में लोकतंत्र इतना सशक्त नहीं है कि त्रिधापाश का तीसरा विकल्प संभव हो सके, जिसके अंतर्गत सत्ता प्रतिष्ठान को हर हाल में जनता से एकाकार बैठाना पड़े। उस हालत में पुलिस का स्वरूप व कार्यप्रणाली भी इस आदर्श समीकरण के अनुरूप ही स्वाभाविक विकसित होते। यानी तब 'अच्छी पुलिस' सत्ता प्रतिष्ठान के एजेंडे पर भी उसी तरह होगी जैसे जनता के एजेंडे पर। यह विकल्प 'संवेदी पुलिस सशक्त समाज' की अवधारणा पर आधारित होगा। संवेदी पुलिस से अर्थ है संवैधानिक मूल्योंवाली लोकतांत्रिक पुलिस और सशक्त समाज की कसौटी है कि लोगों को हक/हर्जाना स्वतः व समयबद्ध मिले। 'संवेदी पुलिस' पुलिस प्रशिक्षण का और 'सशक्त समाज' राजनीतिक प्राथमिकता का मुद्दा होगा।

स्पष्ट है कि त्रिधापाश की पहली स्थिति में न तो कहीं संवेदी पुलिस है और न ही सशक्त समाज, जिस वजह से आज पुलिस-व्यवस्था अपने आप में एक विकट समस्या बनी हुयी है। तीसरी स्थिति एक आदर्श स्थिति है जिसके लिए 'संवेदी पुलिस सशक्त समाज' को फास्ट फारवर्ड करना होगा, जो राजनीतिक इच्छाशक्ति के बिना मुमकिन नहीं। जबकि दूसरी स्थिति पर पुलिस सुधार की वर्तमान मुहिम केन्द्रित है, हालांकि यहाँ भी 'संवेदी पुलिस सशक्त समाज' का रोडमैप नदारद है।

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि कानून व्यवस्था को लेकर हाय-तौबा मचानेवाले राजनीतिक दलों ने पुलिस सुधारों को चुनावी मुद्दा बनाना जरूरी नहीं पाया है। सर्वोच्च न्यायालय के 'ऐतिहासिक' निर्णय में भी पुलिस अधिकारियों और उच्च न्यायपालिका की जकड़ हावी है, न कि जनता के अधिकार। राजनीति और नौकरशाही के गठबंधन ने इस बीच नए सिरे से राज्यवार पुलिस अधिनियम लाकर इन सुधारों से अपने बुनियादी स्वार्थों का भरसक संतुलन बैठाने का सिलसिला चला रखा है। रही आम नागरिक की स्थिति तो वह इन 'सुधारों' के दौर में भी जस की तस है। दरअसल, पुलिस सुधार में लोकतांत्रिक पुलिस की अवधारणा सतही तौर पर ही शामिल हो पायी है।

कहावत है कि जाके पांव न फटी बिवाई वो क्या जाने पीर पराई। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ मान लिया गया था कि प्रशासनिक मशीनरी अपने आप ठीक हो जायेगी। पर जब राजनीतिक सत्ता का चरित्र ही खास नहीं बदला तो नौकरशाही या पुलिस का कैसे बदलता। इस बीच आपातकाल के अपमानजनक दौर (1975-77) से गुजरने के बाद भुक्तभोगी राजनेताओं ने पुलिस एवं जेल व्यवस्थाओं में सुधार की अनिवार्यता को शिद्दत से महसूस किया होगा। लिहाजा दो अलग-अलग सुधार कमीशन बने भी; पर जब तक उनकी रिपोर्टें आतीं पुनः सत्ता परिवर्तन हो गया और इस कवायद को राजनीतिक एजेंडे से ही खारिज कर दिया गया।

औपनिवेशिक ढाँचे में विकसित और जन-विमुख राजनेताओं, पिछलग्गू नौकरशाही और समाज-निरपेक्ष पुलिस नेतृत्व से संचालित भारतीय पुलिस के लिए एक लोकोन्मुख रोडमैप की चिर प्रतीक्षा का अंत क्या संभव है? पुलिस कमीशन की रिपोर्ट से पुलिस का सामंती चरित्र और उसकी कार्यप्रणाली पर राजनीति व नौकरशाही के गठजोड़ की अलोकतांत्रिक जकड़ का खुलासा हुआ था। हालांकि लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य में इन अनुशंसाओं की तस्वीर भी उतनी उत्साहवर्धक नहीं लगती। इनमें सुधार के प्रशासनिक सिद्धांत तो चित्रित हैं पर सामान्य नागरिक के नजरिये से नहीं। दरअसल, कमीशन ने मुख्यतः राज्य-सत्ता के विभिन्न अंगों से पुलिस के परस्पर संतुलन को ही संबोधित किया था। लिहाजा इस पर आधारित सर्वोच्च न्यायालय के फैसले की भी यही सीमा है।

पुलिस सुधार से जनता का मतलब है एक संवेदी और लोकतांत्रिक पुलिस। जबकि प्रकाश सिंह मामले में पुलिस नेतृत्व, एक स्वायत्त और जवाबदेह पुलिस की जरूरी पर सीमित अवधारणा तक ही जा पाया है। सुधार के लिए अब न्यायालय की पेशियाँ नहीं राजनीति की गलियाँ गर्म की जानी चाहिए।

शहर में नया सफ़ाईवाला

इन दिनों शहर में नया सफ़ाईवाला आया है। सफ़ेद झक कपड़े पहने और ऊपर से कीमती डिजाईनर जैकेट पहने हुये। आते ही अपने चार झाड़ू इधर से उधर मारी, टी.वी. पर फ़ोटो खिंचवाई और चलता बना। लेकिन जाते-जाते वह म्युनिसिपलटी वालों को जरूर प्रसन्न कर गया। कहा कि सफ़ाई सिर्फ़ उनका नहीं देश के सारे 125 करोड़ देशवासियों का कर्त्तव्य है। बेचारे म्युनिसिपलटी वाले तो बेकार ही बिना सफ़ाई किये तनखा लेने के अपराधबोध से ग्रस्त थे। अब तो देश का प्रधानमंत्री खुद कह गया है कि यह लोग़ों का खुद का काम है। वे खुद करें अपने गली मुहल्लों की सफ़ाई।

इतना ही नहीं उसने इस काम के लिये नौ लोग़ों की नियुक्ति भी कर दी, जो इसी तरह आगे नौ-नौ लोग़ों को सफ़ाई के काम के लिये नियुक्त करेंगे यानि सफ़ाई ना हुई चेन मार्केटिंग हो गई। बेचते रहो आगे से आगे सामान। इस चेन में कांग्रेस के नेता शशि थरूर भी शामिल हो गये यह कहते हुये कि सफ़ाई के काम में राजनीति नहीं होनी चाहिए। हां थरूर साहब जब बीबी के मर्डर के आरोप की तलवार सिर पर लटक रही हो तो किसी भी राष्ट्रीय काम का बहाना लेकर सरकार में घुस जाना ही ठीक है।

लेकिन इन सबसे ऊपर विचारणीय प्रश्न ये हैं कि क्या सफ़ाई का ये तरीका ठीक है? क्या इसके लिये हमारे स्थानीय निकायो-म्युनिसिपलटी, पंचायत आदि की कोई जिम्मेदारी नहीं? क्या सिर्फ़ गली में झाड़ू लगाते हुए फ़ोटो खिचवाने से काम चल जायेगा? सीवर में कौन घुसेगा? कचरे को अलग-अलग कौन छांटेगा? उसका निष्पादन कैसे हागा आदि?

सबसे पहले गली मुहल्ले की सफ़ाई से शुरू करें। निश्चित रूप से इसमें सभी व्यक्ति मदद कर सकते हैं। वे अपने-अपने घर का कूड़ा जैविक, अजैविक, धातु आदि वर्गों में छांटकर निर्दिष्ट स्थानों पर डाल सकते हैं। लेकिन इससे आगे सारा काम सरकारी मशीनरी के हाथ में है। अगर इससे आगे सरकारी मशीनरी ठीक काम करती है तो लोग भी ठीक जगह कूड़ा डालते हैं। लेकिन दिक्कत तो ये है कि ये सरकारी मशीनरी ठीक काम नहीं करती और इसका ठीकड़ा फ़ोड़ा जाता है बेचारी आम जनता या सफ़ाई कर्मचारी पर। आज इस सफ़ाई अभियान के अन्तर्गत जारी सारे विज्ञापन भी यही काम कर रहे हैं। लोग़ों को ही दिल्ली और पूरे देश को गन्दा करने के लिये जिम्मेदार ठहरा रहे हैंऔर इस तरह अपने भ्रष्टाचार और निकम्मेपन को छुपा रहे हैं। आज दिल्ली फ़रीदाबाद आदि शहरों से रोज़ाना निकलनेवाले हज़ारों टन ठोस कचरे को इकठ्ठा करने और ठिकाने लगाने की कोई योजना सरकार के पास नहीं है। फ़रीदाबाद में तो कोई निर्दिष्ट कूड़ाघर ही नही है जहां सारे शहर का कूड़ा इक्कठ्ठा करके निपटाया जा सके। ले-देकर एक कूड़ाघर मांगर गांव के पास बनाया है जो फ़रीदाबाद और गुड़गांव दोनों महानगरों के लिये है लेकिन हमेशा समस्याग्रष्त रहता है। इसलिये जब कूड़ा उठाया नहीं जायेगा तो लोग भी गली में पड़े कूड़े के अभ्यस्त हो जाते हैं और इसके साथ जीना सीख लेते हैं। यही चीज़ सफ़ाई कर्मचारियों को भी निकम्मा बना देती है।

यही हाल सीवर व्यवस्था का है। सीवर से निकलनेवाले मल के ट्रीटमेन्ट की यथेष्ट व्यवस्था नहीं है। एक तो शुरू में ही डाली गयी सीवर पाईप कम कैपेसिटी की है। ऊपर से कई जगह उनके मेनहोल खुले पड़े रहते हैं जिनसे ठोस कचरा उनमें जाता रहता है। इस कारण से सीवर अक्सर जाम हो जाते हैं और उनकी सफ़ाई का कोई उचित प्रबन्ध नहीं है।

इन सबके ऊपर समस्या यह कि सफ़ाई कर्मचारी कों हमारे यहां सबसे तुच्छ, अस्पर्स्य और घृणित जीव समझा जाता है। ज़्यादातर सफ़ाई कर्मचारी ठेके पर हैं और इसलिये न्यूनतम वेतन से भी आधे दामों पर काम करने को मजबूर हैं। ऊपर से देश की आधी से ज़्यादा जनता ऐसी बस्तियों में रहने को अभिशप्त है जहां कोई सीवर व सफ़ाई व्यवस्था है ही नहीं। ये अनाधिकृत कालोनियां व जे.जे. कॉलोनी कहलाती हैं। जिनके निवासियों का जीवन अत्यन्त नारकीय है।

इसलिये मोदी जी ये नौटंकी छोड़िये और गली गली झाड़ू लिये फ़िरने और सस्ता प्रचार पाने के बजाय समस्या के समग्र हल के ऊपर सोचिए। योजना बनवाईये और उसका कार्यान्वयन करवाईये। आपके स्तर का काम वो है ना कि झाड़ू लगा कर तस्वीरें खिंचवाना। इस तरह की नौटंकी से हमें मूर्ख मत बनाइये ये देश नहा धोकर पूजा करने वालों का देश है। ये गंगा और नर्मदा को माता मानने वालों का देश है। ये साफ़ सफ़ाई के महत्व को खूब जानता है और साफ़ सफ़ाई से रहना चाहता है लेकिन निकम्मे, भ्रष्ट और चालाक अफ़सरों और नेताओं ने उसका जीना हराम कर रखा है।

हिसाब 100 दिन का
नयी जैकेट ही नहीं बदलते रोज वो,
नये मुद्दे भी रोज़ उनके पास हैं।
नये ताने नये बहाने रोज नये अन्दाज हैं,
कभी झाड़ू लगाओ कभी बतियाओ बच्चों
से स्कूल उनके पास हैं।
काले धन और महंगाई की बात अब मत
कीजिए,
ये मुद्दे सब लगते अब बकवास हैं।
यारो जो मांगते थे हिसाब रोज का सबसे,
उनसे आज सौ दिन में मांगा तो भी एतराज
है।

-अजातशत्रु